

तृतीय अध्याय

समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप,
भेद, असम्प्रज्ञात समाधि

समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि के स्वरूप भेद

समाधि उस अवस्था का नाम है जिसमें से मोक्ष प्राप्ति से पूर्व गुजरना आवश्यक है। क्योंकि योग समाधि द्वारा मोक्ष प्राप्ति पर आग्रह करता है, इसलिए इसे पारिभाषिक रूप में समाधि कहा गया है। योगः समाधिः यह समाधिस्थ की दिशा है¹ जिसमें बाह्य जगत के साथ सम्बन्ध छूट जाता है। योग की साधना का यह लक्ष्य है, क्योंकि यह आत्मा को उसके काल सम्बन्धी, सौपाधिक तथा परिवर्तनशील जीवन से ऊपर उठाकर एक सरल नित्य तथा पूर्ण जीवन प्राप्त करता है। इसके द्वारा पुरुष नित्यपद को पुनः प्राप्त कर लेता है। योग और समाधि पर्यायवाची शब्द है। समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर चित्त की स्थिर एवं उत्कृष्ट अवस्था होती है। यही समाधि की अवस्था कहलाती है।² साधक के निरन्तर अभ्यास करते रहने से ध्यान जब ध्येय मात्र का प्रकाशक एवं अपने ध्यानाकार से सदृश हो जाता है, तब वह समाधि की अवस्था कहलाती है। जैसा कि प्रथम अध्याय में बताया गया है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। परन्तु एकाग्रावस्था को भी योग माना गया है। जिसे सम्प्रज्ञात योग कहा जाता है। सम्प्रज्ञात अवस्था में मन विषय से अभिज्ञ रहता है। वह अवस्था जिसमें चित्त अपने उद्देश्य में एकाकी होता है और एक स्पष्ट तथा यथार्थ पदार्थ को पूर्णरूप से प्रकाशित करता है, दुःखों को दूर करता है तथा कर्म के बन्धनों को ढीला कर देता है और सब प्रकार की मानसिक वृत्तियों का दमन अपना लक्ष्य रखता है। इसके अन्दर ज्ञाता और ज्ञात का संयोग होता है, जिसमें ज्ञाता विषय को जानने वाला केवल इसलिए कहलाता है कि वह स्वयं वही है। विचार और विचार का विषय एक ही है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, आनन्द व आस्मिता के भाव सलंग्न रहते हैं। ये समाधि के ऐसे रूप हैं जिनके निश्चित विषय हैं,

जिनपर इनका आधार है। सम्प्रज्ञात अवस्था में रजोगुण और तमोगुण युक्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस समय सत्त्वगुण प्रधान एकाग्र वृत्ति के होने से चित्त निर्मल हो जाता है।

उस समय चित्त ध्येय पदार्थ का ध्यान करने में समर्थ हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात समाधि मानी जाती है। उस समय सत्त्व पुरुष को अन्यथाख्याति रूप विवकेज्ञान उत्पन्न होता है। विवेकज्ञान उत्पन्न होने से पदार्थ का संशय और विपर्यय रहित यथार्थ ज्ञान चित्त में उदय होता है। तभी अविद्या आदि पाँच क्लेश क्षीण हो जाते हैं। चित्त और पुरुष के बन्धन के कारण धर्मादि शिथिल पड़ जाते हैं।³ सम्प्रज्ञात समाधि में विषयों के साक्षात्कार का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। अर्थात् पहले स्थूल पदार्थों का साक्षात्कार होता है और उसके अनन्तर चित्त अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है। इस स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने वाले क्रम को स्पष्ट करते हुए दृष्टान्त दिया है कि जैसे— एक धनुर्धारी अपने शिष्य को सर्वप्रथम स्थूल लक्ष्यबेध की विधि बताता है। इसे सम्प्रज्ञात इसलिए कहते हैं कि इसमें ध्येय पदार्थ सम्यक रूप से ज्ञात रहता है। जब किसी ध्येय वस्तु पर चित्त केन्द्रीभूत होकर चिरकाल तक स्थिर रहता है, तब उसे एकाग्र कहते हैं। प्रत्येक ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला व्यक्ति, ध्येय अर्थात् ध्यान की जाने वाली वस्तु और ध्यान अर्थात् ध्यान की क्रिया — इन तीनों से युक्त होता है। प्रारम्भिक अवस्था में कोई भी ध्यान आलम्बन शून्य नहीं हो सकता है। यह आलम्बन भी दीर्घकाल तक वर्तमान रहता है। हम अमुक ध्येय का ध्यान कर रहे हैं, विशिष्ट ज्ञान पूर्वक होने से इस समाधि को सम्प्रज्ञात कहते हैं। इसमें सबीज भी कहते हैं, क्योंकि इस दशा में चित्त के समाहित होने के लिए किसी आलम्बन की अपेक्षा रहने से बीजभूत अज्ञान भी वर्तमान रहता है। प्रत्येक साधक को प्रारम्भ में इसी आलम्बन समाधि का आश्रय लेना पड़ता है — विषयभेद से इसके चार भेद हैं — वितर्कानुगत, विचारा नुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत।⁴ वितर्कानुगत समाधि — चित्त में स्थूल विषय का अभोग वितर्क कहलाता है।⁵

वितर्कानुगत समाधि स्थूल महाभूत या पंचभौतिक चतूर्भुजादि भगवत्प्रतिमा आदिरूप ग्राह्यविषयक समाधि है। आभोग का अर्थ है — एक वस्तु का दूसरी में आरोप करने पर देश सम्बन्धि एकता। चित्त का विषय—सानिध्यकाल में तदरूप होकर साक्षात्कार करना आभोग है। वितर्कानुगत समाधि के ही प्रकृतिगत भेद सवितर्क एवं निर्वितर्क समापतियाँ हैं। इनमें शब्द अर्थ एवं ज्ञान से सकीर्ण समापत्ति सवितर्क कहलाती है।⁶ इसी की प्रकृष्ट भूमिका में शब्दार्थज्ञानशून्य अर्थ मात्र को प्रकाशित करने वाली निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।⁷ सवितर्क शब्द, अर्थ एवं उसके ज्ञान की स्मृति से युक्त होती है। अतः यह शब्द संकेत स्मरणवती होने से विकल्पात्मिका है। विकल्मय ज्ञान वास्तविक नहीं होता है। वितर्क शब्द का प्राचीन अर्थ शब्दमयी चित्ता भी है। वितर्क का अर्थ हुआ विशेष तर्क। अतः जिसमें वितर्क अथवा विशिष्टरूप से शब्दमय चित्ता हो, वह समाधि प्रज्ञापूर्ण स्थिति सवितर्क समापत्ति है। यथा—गौ को ध्येय बनाने पर वर्णसमुच्चयरूप 'गौः' शब्द, सास्नादियुक्त प्राणिविशेष रूप 'गौः' अर्थ एवं मानस बोध स्वरूप 'गौः' ज्ञान ये तीनों भिन्न-भिन्न होने पर भी सवितर्क समापत्ति में इनका अविभक्त या मिश्रितरूप से ज्ञान होता है। निर्वितर्क समापत्ति में चित्त ध्येयभूत अर्थाकार मात्रवती प्रज्ञा से परिपूर्ण होता है। यह स्थिति शब्द—संकेतस्मरणशून्य तथा आगम, अनुमान—ज्ञानादि के विकल्प से रहित, केवल ध्येयाकार प्रकाशिनी है। अतः इसे निर्विकल्पक भी कहते हैं। कारण इसमें ग्राह्य विषय का वास्तविक स्वरूप स्फुटित होता है। इसमें ध्येय विषय के प्रकाशनार्थ शब्दादि के संकेतों का स्मरण अपेक्षित नहीं होता है। ध्येयाकार मात्र की भासिका होने से निर्वितर्क समापत्ति में चित्त के अपने ग्रहण स्वरूप का भी भाव नहीं होता। अतः चित्त का स्वरूप नहीं के तुल्य हो जाता है। चित्त का ग्रहण स्वरूप उस समय रहता तो है, किन्तु ध्येय में वह इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी प्रतीति नहीं होती है।

विचारानुगत समाधि — जब स्थूल विषयक समाधि अधिकृत हो जाती है,

तब उसके अनुभव के साथ विचार—विशेष से अग्रिम भूमिका में सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान होता है। सूक्ष्म आलम्बन में चित्त का अभोग विचार का हेतु है। पंचतन्मात्रा आदि इसके सूक्ष्म विषय है। विचार के लिए भी शाब्दिक सहायता अपेक्षित है। अतः प्रकृतिगत भेदानुसार इसके सविचारा एवं निर्विचारा समापत्ति रूप दो भेद है। सविचारा समापत्ति में शब्द, अर्थ एवं ज्ञान का विधान रहता है। समाधिप्रज्ञा की शुद्धि होने पर इसमें भी वाद में सूक्ष्म ध्येय अर्थ—मात्र का बोध होता है। उसी को निर्विचारा समापत्ति कहते हैं। इन्हें सवितर्का एवं निर्वितर्का की भौति समझना चाहिये। भेद केवल यह है कि सवितर्का, निर्वितर्का स्थूलविषयिणी है और सविचारा निर्विचारा सूक्ष्म विषयिणी। सूक्ष्म विषयों की चरमसीमा अव्यक्ता प्रकृति पर्यन्त है। इसी को अलिंग भी कहते हैं।

निर्विचारा समापत्ति में ही पूर्णतः शुद्ध तत्व का साक्षात्कार होता है। कारण शब्दाश्रित चित्ता पूर्णतः शुद्ध नहीं होती है। शब्दों के द्वारा सोचने से जो भ्रान्ति सम्भव है, वह शब्दहीन चित्ता (निर्विचारा समापत्ति) में असंभव है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है— अपरिमिततरं हि मनः परिमिततरं हि वाक्। तथा वाग्वैमनसो हसीयसी।⁸

आनन्दानुगत समाधि — यह केवल सूक्ष्म ग्रहण विषयक समाधि है।

सात्विक अहंकारजन्य होने से इन्द्रियों आनन्दस्वरूप है। अतः इसके आलम्बन से सत्त्व के प्रकर्ष से अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है। शरीर, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं प्राणों का वह अधिष्ठान स्वरूप है। अतएव यह आनन्द समस्त शरीर की सात्विक स्थिरता अथवा उस स्थैर्य का स्वाभाविक बोध स्वरूप है। इन्द्रियगण के विषय व्यापार से उनकी शान्ति ही अपेक्षाकृत परम आनन्द प्रदायिनी है। योगी इन्द्रियगण की शाश्वतिक शान्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। यह आनन्द अनुभव का ही विषय है। आह्लाद इन्द्रियों का स्वभाव है। क्योंकि इन्द्रियों के मूल में सत्त्व प्रधान वैकारिक अहंकार है। अतः इन्द्रियों के चरितार्थ होने पर आनन्द का बोध होता है। महाभारत के शान्ति पर्व में इन्द्रियों

के पिण्डीवत्भाव की चर्चा की गई है। इन्द्रियों का पिण्डीवत्-भाव होने से इन्द्रियगत आनन्दभाव प्रकट होता है। उसमें समाधि होना आनन्दानुगत समाधि है।

योग भाष्यकार ने आनन्दानुगत समाधि को विचार विकल कहा है, क्योंकि स्थूलभूत से तन्मात्र तत्व में प्रविष्ट होने के लिए जिस प्रकार यत्नतः विचारपूर्वक ध्यान आवश्यक है, इसमें वह भी अनपेक्षित है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात के विषय सूक्ष्मभूत है, वे भी इस समाधि के विषय नहीं होते। अतः इसे विचार-विकल कहा गया है।⁹ आनन्दानुगत समाधिवर्ती आनन्द के द्रष्टा का बोध सास्मित समाधि है।

अस्मितानुगत समाधि - एकाग्रता की सूक्ष्मता और सत्वगुण की वृद्धि के साथ-साथ अहंकार की आनन्दात्मिका वृत्ति के सूक्ष्म होने पर अस्मिता का साक्षात्कार होता है। चित्त प्रतिबिम्बित बुद्धि ही अस्मिता है।¹⁰ दृक् शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति बुद्धि है। इन दोनों की एकात्मरूप वृत्ति अस्मिता है। इसमें अहंकार भी सूक्ष्म रूप से रहता है। वस्तुतः इसमें प्रकृति, पुरुष, बुद्धि तथा अहंकार इन चारों का संस्कार होता है। यह समाधि ग्रहीतृ-विषयक होती है किन्तु इसमें समाधि का आलम्बन स्वरूप दृष्टा नहीं अपितु विरूप, दृष्टा, व्यावहारिक पुरुष ही होता है,

उपर्युक्त चारों प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियों में प्रथम वितर्कानुगत समाधि में चारों व्याप्त है। विचारानुगत में तीन है, आनन्दानुगत में दो तथा अस्मितानुगत केवल अपने आपमें अनुगत है। प्रकृति का कार्य बुद्धि, बुद्धि का अहंकार, अहंकार का इन्द्रियों एवं सूक्ष्म पंचभूत (पंचतन्मात्र) एवं पंच सूक्ष्मभूतों का कार्य स्थूल पंचभूत होते हैं। अतः स्थूल भूत विषयिणी भावना वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता चतुष्टयानुगत कही गयी है। सूक्ष्म पंचभूत विषयक विचारानुगत समाधि तृतीयानुगत है। यह केवल वितर्क रहित है। अतः इस समापत्ति में पंचभूतों का भान नहीं होता है। ग्रहण विषयक आनन्दानुगत समाधि विचार से भी विकल है। इसमें स्थूल-सूक्ष्म उभय विधभूतों का भान नहीं होता है। यह द्वितीयानुगत अर्थात्

आनन्दानुगत और अस्मितानुगत दोनों से व्याप्त है। चतुर्थ अस्मिता विषयक समापत्ति आनन्द विकल अस्मिता मात्र ही है, क्योंकि इसमें स्थूल—सूक्ष्म पंचभूत एवं इन्द्रियों तथा स्थैर्यगत आनन्द किन्ही का भी भान नहीं होता है। यहाँ आनन्द विकल का अर्थ आनन्दशून्य नहीं है, अपितु आनन्द से अतीत है ग्रहण विषयक आनन्द की अपेक्षा यह अधिक अभीष्ट शान्ति स्वरूप है इसी प्रकार धीरे—धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभ्यास का क्रम बढ़ाने से अन्त में सम्प्रज्ञात समाधि की चरम सीमा रूप विवकेख्याति का उदय होता है। आनन्दानुगत समाधि ग्रहण विषयक समापत्ति है और अस्मितानुगत समाधि ग्रहीतृ विषयक समापत्ति है। समापत्ति से तात्पर्य इतर वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर ध्येयाकाराकारित चित्त की स्थिति से है। समाधि में भी चित्त ध्येयाकार में परिणत होता है, किन्तु समाधि शब्द एक एकाग्रता विशेष को लक्ष्य करता है और समाधिप्रज्ञा से चित्त की परिपूर्णता समापत्ति है। चित्त की स्फटिक मणि से उपमा होती है, जिस प्रकार स्फटिक मणि के समक्ष विभिन्न रंग आने पर वह उसी—उसी रंग का दिखाई देने लगता है, वैसे ही चित्त जिस—जिस ध्येय का आलम्बन ग्रहण करता है, स्वयं भी तदरूप हो जाता है। वस्तुतः समापत्ति स्थितिप्राप्त चित्त की समाधि का नाम है। स्थितिप्राप्त का अर्थ एकाग्र भूमि प्राप्त है। जब अभीप्सित विषय में इच्छानुसार निश्चल समाधि का अभ्यास हो जाय, तब चित्त स्थितिप्राप्त होता है। उसे स्थिति की समाधि ही समापत्ति है। शुद्ध समाधि और समापत्ति में यही भेद है। विषय भेद से समापत्ति ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ भेद से तीन प्रकार की है। वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मितानुगत समाधियों का विभाजन भी विषयगत ही है। स्थूल—सूक्ष्म ग्राह्य के भेद से वितर्कानुगत एवं विचारानुगत समाधियों का विभाजन है। इन विषयों की प्रकृति के भेद से सवितर्क निर्वितर्क एवं सविचारा, निर्विचारा समापत्तियों का विभाजन है। उपर्युक्त जितनी भी समाधियों का वर्णन किया गया है, वे सब सबीज समाधियाँ हैं, क्योंकि इनमें सबमें किसी ना किसी स्थूल आलम्बन की अपेक्षा रहने से बीजभूत अज्ञान भी विद्यमान रहता है।

असम्प्रज्ञात समाधि — पर वैराग्य द्वारा विवकेख्याति रूप सात्त्विकवृत्ति के निरुद्ध हो जाने पर द्रष्टा की शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप में अवस्थिति होती है। यही असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।¹¹ इस समय चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती है, किन्तु वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है। आरम्भ में असम्प्रज्ञात समाधि क्षणिक होती है, किन्तु ज्यों-ज्यों धीरे-धीरे निरोध के संस्कार व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट करते जाते हैं, त्यों-त्यों अधिक समय तक रहने वाली होती जाती है और इसकी अवस्था परिपक्व होती जाती है। अन्त में जब निरोध के संस्कार व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर देते हैं, तब वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। यह असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है — उपाय प्रत्यय और भव प्रत्यय। इनमें से उपाय प्रत्यय योगियों को होती है और भव प्रत्यय विदेहों तथा प्रकृतिलीनों को होती है। व्यास ने भाष्य करते हुए लिखा है कि असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त पूर्ण रूप से निरालम्बनता को प्राप्त हो जाता है। अतः इसे निर्वीज समाधि भी कहते हैं। समाधि को प्राप्त करने में साधक जितनी अधिक तत्परता एवं धैर्य से साधन करता है, उतनी ही शीघ्रता से उसे समाधि लाभ होता है। तीव्र संवेगयुक्त साधक शीघ्र ही समाधि लाभ करके उसका फल प्राप्त करता है।¹² तीव्र संवेगयुक्त साधकों को भी साधन तत्परता में कुछ भेद होता है। अधिक, अधिकतर और अधिकतम तत्परतायुक्त साधन होने से तीव्र संवेग युक्त योगी भी मृदुतीव्र-मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र उपायवाले होते हैं और अपनी योग्यतानुसार शीघ्र, शीघ्रतर और शीघ्रतम समाधि प्राप्त करते हैं। अथवा ईश्वर प्रणिधान से भी शीघ्र ही समाधि प्राप्त होती है। ईश्वर क्लेश, कर्म एवं उनके विपाक के संस्कारों से सर्वथा असम्पृक्त सब पुरुषों से विशेष प्रकार का अर्थात् उत्कृष्ट कोटि का होता है। यद्यपि प्रत्येक पुरुष वस्तुतः विषयों से असम्बद्ध ही होता है, किन्तु अज्ञानवश उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का अध्यारोप होता है। जिस प्रकार योद्धाओं की जीत हार होने पर सेना के स्वामी की ही जय-पराजय कहा जाता है, इसी प्रकार चित्त और पुरुष का भी स्वस्वामीभाव-सम्बन्ध है और चित्त में होने वाले क्लेश कर्मादि का व्यवहार पुरुष में किया जाता है। इस प्रकार

अज्ञान से प्रयुक्त औपाधिक क्लेशादि का सम्बन्ध विवेकशील ईश्वर में कभी नहीं होता। मुक्त पुरुष भी क्लेशादि से असम्बद्ध हो जाते हैं, किन्तु मुक्त पुरुष मुक्ति से पूर्व बन्धन में रहता है और प्रकृष्ट सत्वरूप उपादान के कारण ईश्वर में शाश्वतिक उत्कर्ष है। ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है। वह ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है। किसी भी ऋषि मुनि आदि की सर्वज्ञता किसी काल विशेष में ही होने से कालावच्छिन्न होती है। अतः उन्हें ईश्वर कोटि में नहीं न्यस्त कर सकते। ज्ञान अनन्त अनादि है। ईश्वर का चित्त इसका मूल स्रोत, असीमित एवं नित्य तथा गुरुत्व की अन्तिम कोटि है। यह किसी भी काल या देश से अवच्छिन्न है।¹³ प्रणव ईश्वर का वाचक है। इसके नित्य निरन्तर जप एवं भावना करने से शीघ्र ही समाधि लाभ होता है। अतः प्रणव जप के साथ-साथ उसके अर्थ की भावना करना चाहिये। श्रीमद् भगवद्गीता में भी प्रणव जप की महिमा का गुणगान किया गया है।¹⁴ मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मरूप लक्ष्य प्राप्ति हेतु आत्मा को शर और प्रणव धनुष बताया गया है।¹⁵ समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान वस्तु ओम् रूप अक्षर ही है। उक्त त्रिकाल से अतीत वस्तु भी सब कुछ ओंकार ही है।

प्रणव जप द्वारा अभीष्ट-सिद्धि के रहस्य का आधार मन्त्रयोग है। प्रणव को सम्पूर्ण मन्त्रों का सेतु, मंगलप्रद, सर्वसिद्धिप्रदायक तथा सब मन्त्रों का नायक भी कहा गया है। तन्त्रों में मन्त्रविज्ञान की महत्ता एवं विशिष्ट-विशिष्ट मन्त्रों में निहित शक्तियों का विशद विवेचन प्राप्त होता है। मन्त्रयोग का रहस्य आधुनिक विज्ञान ने भी समझा है। तदनुसार मन्त्रयोग द्रव्य और चेतनता में परिवर्तन करने में समर्थ है। जहाँ कार्य है, वहाँ सूक्ष्म स्पन्दन अवश्य होगा। जहाँ स्पन्दन है वहाँ शब्द अवश्यम्भावी है। अतः सृष्टिमूलक प्रणवध्वनी (ओंकार) ही है। आधुनिक विज्ञान यह स्वीकार करता है कि चरम सत्य का प्राथमिक प्रकटीकरण सृष्टि एक सूक्ष्म स्पन्दन के द्वारा होती है, जिसे ध्वनी या शब्द कहते हैं। इस शब्द के द्वारा संसार की उत्पत्ति ही नहीं वरन् उसका निर्वाह भी होता है। अतः यह स्पन्दन के

अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है। ये स्पन्दन ही दृश्यात्मक जगत् को संवृत करके व्याप्त रहते हैं।

विज्ञान अभी तक भौतिक द्रव्यों के चरम विधान का स्पष्ट चित्र खींचने में असमर्थ रहा है, किन्तु इतना अंतिम और निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि द्रव्य और शक्ति परस्पर परिवर्तनीय है। सापेक्षवाद के सिद्धान्त से यह पूर्ण सिद्ध हो-चुका है कि द्रव्य और शक्ति का अत्यन्त भिन्न रूप में कोई अस्तित्व नहीं है। वे एक ही सत्ता के दो रूप हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन का समीकरण $E=MC^2$ सुविख्यात है।¹⁶ केवल पदार्थ ही शक्ति का द्योतक नहीं होता अपितु भौतिक द्रव्यों का ज्ञान भी विविध स्पन्दनों पर निर्भर है। विभिन्न प्रकार के स्पन्दन ज्ञान तन्तुओं से टकराकर, पाँच विभिन्न प्रकार की चेतनाओं को जन्म देते हैं। अतः पंचतन्मात्रात्मक जगत् का आधार ये स्पन्दन या कम्पन ही है। विविध स्पन्दन एकमात्र उसी स्पन्दन के द्योतक है, जिसका संचालन उस सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा से होता है, जो विशिष्ट जगत् का अधिष्ठातृ देवता होता है। सृष्टि के कारणभूत उस महान आधारभूत अविभाजित स्पन्दन को शब्द ब्रह्म कहते हैं।¹⁷ वेद शास्त्रों में भी प्रणव को शब्द ब्रह्म कहा गया है। इसके द्वारा उत्तम रीति से विनम्रतापूर्वक स्तुति की जाती है, अतः वह प्रणव कहलाता है।

भक्तिपूर्वक ईश्वर को सब कर्म अर्पित करके उसी के भरोसे रहकर उसके नाम, जप और भावना करने को ईश्वर प्रणिधान कहते हैं। इस ईश्वर प्रणिधान से योगी के मार्ग में आने वाले अनेक विघ्नों का अभाव भी होता है और समाधि से शुद्ध चैतन्य के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। योग मार्ग में आने वाले अनेक विघ्नों व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध विक्षेपयुक्त, अनवस्थितत्व आदि हैं। ये सब चित्त के विक्षेपरूप हैं। विक्षेपयुक्त चित्त वाले योगी का चित्त क्षुब्ध हो जाने के कारण पाँच और भी उपविक्षेप उत्पन्न होते हैं, जिनके नाम दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास हैं। समाधि

के विरोधी इन सभी विक्षेपों को अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा रोका जाता है। इन विक्षेपों को रोकने तथा मन को एकाग्र करने के लिए एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। वह तत्त्व है—ईश्वर, ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतर समाधि प्राप्ति एवं विघ्नों का नाश होता है।

ईश्वर प्राणिप्रधान से ईश्वर की कृपा से प्रत्येक विघ्न स्वतः शान्त हो जाते हैं ईश्वर सर्वशक्तिमान है। ईश्वर में श्रद्धा साधक की मंगलमयी जननी की भौति कल्याण प्रदायिनी है।¹⁸ और हर प्रकार से विघ्नों की रक्षा करती है। शास्त्रोक्त परिकर्म के अनुसार सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना, दुःखी जनों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति आनन्द की भावना तथा पुण्यहीनों के प्रति उपेक्षा की भावना करने से मन प्रसन्न होता है।¹⁹ प्रसन्न चित्त शीघ्र ही स्थिति प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त प्राणवायु के प्रयत्न विशेष के साथ रेचक और कुम्भक से भी चित्त एकाग्र होता है।

चित्तस्थिति के विभिन्न उपाय जान लेने के पश्चात् जिज्ञासा होती है। यह किस प्रकार जाना जाय कि अब चित्त पूर्ण स्थिर हो चुका है। इसका उत्तर यह है कि जब पूर्वोक्त उपायों से ध्यान क्रिया के अनुसार सूक्ष्मतम परमाणु से लेकर परम बृहत् आकाश पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ में चित्त की अख्याहृत गति हो जाय अर्थात् इन सब में जब जिस वस्तु में चाहे तब उसी में ध्यान द्वारा चित्त स्थिर किया जा सके ऐसे वस्तुओं पर वशीकार प्राप्त हो जाने पर चित्त पूर्ण स्थिर हो जाता है। इस अवस्था से युक्त योगी को किसी भी प्रकार फिर किसी अभ्यास आदि से साध्य परिष्कार की आवश्यकता नहीं रहती है। इस प्रकार स्थिति प्राप्त एवं वृत्तियों के क्षीण हो जाने से अत्यन्त निर्मल चित्त अजिजात मणि की भौति ग्राह्य—ग्रहण और ग्रहीता में तन्मयता रूप समापत्ति प्राप्त करता है। समापत्ति रूप प्रज्ञा ही सम्प्रज्ञात योग है, जिसके वितर्क, विचार आदि भेद है और निर्विचारा समापत्ति इसकी उच्चतम अवस्था है। निर्विचारा के वैशारद्य से अध्यात्म प्रसाद होता है और योगी सर्वथा शोक रहित हो जाता है। इस अध्यात्म प्रसाद रूप प्रज्ञा

का अन्य नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है।²⁰ ऋतम्भरा का अर्थ है— सत्यपूर्णा, क्योंकि यह केवल सत्य अर्थ को ही धारण करती है। इसमें विपर्यय की गन्धमात्र भी नहीं है। ऋत नाम सत्य का है²¹ और भर नाम धारणकर्ता का। अतः सत्य अर्थ को धारण करने वाली होने से इस प्रज्ञा का ऋतम्भरा नाम चरितार्थ ही है। वस्तुतः यथार्थ—विषयिणी बुद्धि का यौगिक नाम ऋतम्भरा है। ऋत और सत्य में भेद है जो ज्ञातव्य है। आगम और अनुमानादि के द्वारा प्राप्त होने वाला यथार्थज्ञान सत्य है, (सवितर्का, निर्वितर्का एवं सविचारा उक्त तीनों समापत्तिकाल में अविद्या वर्तमान रहने से बुद्धि वृत्तिपूर्णतः यथार्थविषयिणी नहीं होती साथ ही निर्विचारा समापत्ति के वैशारद काल में अविद्या वर्तमान न रहने से उक्त बुद्धि—वृत्ति यथार्थ है। अतः इसी अवस्था की प्रज्ञा 'ऋतम्भरा' कहलाती है) तथा साक्षात् अनुभव से प्राप्त यथार्थ ज्ञान ऋत होता है। अतः ऋत का अर्थ वह शाश्वत सत्य है, जो साक्षात् अनुभूत हो।

इसी कारण से आगम अनुमानादि जन्य प्रज्ञा से विशिष्टरूप से अर्थ साक्षात्कारवती होने से इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है।²² क्योंकि आगम अनुमानादि वस्तु के सामान्य रूप का बोध कराने में समर्थ होता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही वस्तु के विशेष रूप का ज्ञान कराने में समर्थ होता है। साथ ही इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष स्थूल वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष करा सकता है। सूक्ष्म व्यवहित एवं विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों का लोक प्रत्यक्ष से ग्रहण संभव नहीं है। फिर इन पदार्थों की सत्ता भी अस्वीकार नहीं की जा सकती है, क्योंकि समाप्ति प्रज्ञा से वे पूर्णतः ग्राह्य हैं। अतः श्रुतानुमान प्रज्ञा से यह ऋतम्भरा प्रज्ञा विशेषार्थता के कारण अन्यविषया अर्थात् भिन्न विषय वाली है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से जन्य संस्कार अन्य व्युत्थान संस्कारों का बाधक होता है। यही से विवकेख्याति का समारम्भ हो जाता है और विवकेख्याति के उदय से भोगाधिकार की समाप्ति हो जाती है, क्योंकि विवकेख्याति पर्यन्त ही चित्त की चेष्टा रहती है। इसके भी निरुद्ध हो जाने पर सब कुछ निरुद्ध हो जाता है। अंत में गुणवैतृष्य रूप पर

वैराग्य द्वारा समाधिप्रज्ञात्मक निखिल वृत्तिप्रवाह एवं तज्जन्य संस्कारों को भी अवरुद्ध कर दिया जाता है। यही अवस्था पूर्ण निरोध निर्बीज समाधि है, जिसे असम्प्रज्ञात योग भी कहते हैं, जिसके विषय में कहा गया है कि विवेकख्याति के भी निरुद्ध हो जाने पर सर्व वृत्तिनिरोध रूप निर्बीज समाधि होती है। यह भी अवगन्तव्य है कि निर्बीज समाधि मात्र असंप्रज्ञात नहीं कहलाती। इसी प्रकार सालम्बन समाधिमात्र सम्प्रज्ञात नहीं होती। एकाग्रभूमिक चित्त की चिरस्थायिनी समाधिप्रज्ञा पूर्ण स्थिति ही सम्प्रज्ञात पद वाच्य है। उस स्थिति में निरोध ही चित्त का स्वभाव बन जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य साधिका है, किन्तु निर्बीज से कैवल्य प्राप्ति नहीं भी हो सकती है। इस दृष्टि से निर्बीज एवं कैवल्य में किंचित भेद है। समाधि को जिस अवस्था में संसरण होने योग्य व्यक्त पदार्थ नहीं है, वह निर्बीज है। जो सर्ववृत्तिनिरोध स्वरूप समाधि कैवल्य साधिका होती है, वह असम्प्रज्ञात है।

इस निर्बीज समाधि के भी भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय दो भेद हैं— भव शब्द का अर्थ है अविद्या और प्रत्यय का अर्थ यहाँ है कारण।²³ अतः अविद्या जन्य वृत्तिनिरोध 'भवप्रत्यय' कहलाता है। यह भवप्रत्यय विदेह एवं प्रकृतिलयों को होता है। विदेह एवं प्रकृतिलयों को विवेकख्याति प्राप्त नहीं हो पाती है, अतः इनकी समाधि सावधिक होती है और इस अवधि की समाप्ति के बाद ये पुनः जन्म-मरण त्रास भोगते हैं। इन्हें कैवल्य प्राप्त नहीं होता है। फिर भी इनकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होकर संस्कार मात्र शेष मन से ये एक निश्चित अवधि तक कैवल्यतुल्य स्थिति का अनुभव करते हैं। यह भव प्रत्यय रूप वृत्तिनिरोध मुमुक्षु कैवल्यकामी के लिए त्याज्य है। इस विषय में व्याख्याकारों में मतभेद है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'भव' का अर्थ 'अविद्या' है। विदेह और प्रकृतिलय जो भव प्रत्यय पर आश्रित होते हैं, उपायप्रत्यय वालों की अपेक्षा हेय है, क्योंकि उनकी समाधि अज्ञानमूलक होने के कारण उन्हें कैवल्य की उपलब्धि नहीं होती है, जबकि उपाय प्रत्यय वालों को कैवल्य प्राप्ति हो जाती है। विज्ञानशिक्षु 'भव'

का अर्थ जन्म लेते हैं तथा विदेह एवं प्रकृतिलयों को जन्म से स्वतः निर्बीज समाधि की सिद्धि बतलाते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार भी विदेह एवं प्रकृतिलयों को जन्मतः निर्बीज समाधि सिद्ध होती है। साथ ही उन्होंने उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी किया है। प्रथम तो 'भव का अर्थ यहाँ जन्म नहीं अविद्या ही है, क्योंकि यदि उनमें अविद्या का अंशविद्यमान न रहता तो वे इस स्थिति को प्राप्त ही नहीं होते। पुनः विज्ञान भिक्षु जी के मतानुसार शरीर निरपेक्ष होते हुए भी बुद्धि वृत्ति वाले विदेह कहलाते हैं। जन्म देह-सम्बन्ध-प्राप्ति से होता है। अतः शरीर निरपेक्ष नहीं रहेगा। जिसका चित्त प्रकृति में लीन है, उसका जन्म कैसे हो जायेगा? यदि जन्म हो गया है, तो चित्त आवृत्त होगा और संसार में चित्तावर्तन से वे अवस्थायें समाप्त हो जाती हैं। दूसरे जन्म का अर्थ है तद्-तत् इन्द्रियों द्वारा तद्-तत् विषयों का सम्यक ग्रहण। अतः यदि इस भाँति सब विषयों का ग्रहण हो रहा है, तो कैवल्यतुल्य अनुभव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त भिक्षु जी के अनुसार देवता विशेषों को देवलोक में 'भव प्रत्यय' अर्थात् जन्म है कारण जिसका, वह असम्प्रज्ञात योग होता है, किन्तु समाधि सिद्ध हो जाने पर, उसे विदेह कैवल्य या क्रममुक्ति अवश्य प्राप्त होती है।

'भव' नाम अविद्या का है, वाचस्पति मिश्र इस उक्ति को असंगत बतलाते हुये, भिक्षु जी ने हेतु भी दिया है कि अज्ञानी को पर वैराग्य होना असंभव है, किन्तु भाष्यकार ने पर वैराग्य जन्य असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद नहीं बतलाये हैं, वरन् 'संस्कारशेष' रूप निरोध समाधि के दो भेद बतलाये हैं। पर वैराग्य आदि का विधान तो उपाय प्रत्यय से जन्य समाधि के लिये है यदि 'भव प्रत्यय' में भी पर वैराग्य आदि की अपेक्षा रहे तो उपाय प्रत्यय एवं भव प्रत्यय में भेद ही क्या है? और जब हर एक निर्बीज समाधि का कारण पर-वैराग्य ही है तो भवमूलक समाधि ही कैसे हो सकती है? फिर यह असम्प्रज्ञात समाधि है भी नहीं, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि से तो कैवल्य प्राप्त होता है, गुणाधिकार की समाधि होती है। यहाँ तो अधिकार अचरितार्थ ही रहते हैं। यदि 'भवप्रत्यय' की निरोध समाधि भी

असम्प्रज्ञात समाधि होती तो उपाय जन्य असम्प्रज्ञात समाधि से उसका सारूप्य एवं वैरूप्य दर्शाना भी व्यर्थ है। विदेह एवं प्रकृतिलय कौन है? इस विषय में भी मतभेद है। मिश्र जी ने षाट्कौशिक शरीर से रहित पंचभूत एवं इन्द्रियादि के उपासकों को देहपात के अनन्तर तत्-तत् प्रभाव को प्राप्त होने वालों को विदेह तथा अष्ट प्रकृति में से किसी भी एक की आत्मलेन प्रकृतिलय बतलाया है। भिक्षु जी शरीर की अपेक्षा से रहित बुद्धिवृत्तियुक्त विदेह होते हैं, ऐसा मानते हैं, किन्तु बुद्धि की वृत्तियाँ भोगायतन में ही रहती हैं। भोगायतन शरीर ही है। अतः शरीर के बिना बुद्धि की वृत्तियाँ नहीं रह सकती, क्योंकि वृत्तियाँ भी पूर्वकर्मों की भोग स्वरूपा है। भिक्षु जी ने विदेह एवं प्रकृतिलयों को असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति बतलाई है, वह भी नहीं हो सकती, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि पूर्णतः वृत्तिरहित अवस्था है।

भव प्रत्यय के बाद दूसरी है उपाय प्रत्ययजन्य निर्बीज समाधि। यह श्रद्धा वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञापूर्वक तथा बाद में विवकेख्याति में भी विरक्तता उत्पन्न होने पर आविर्भूत होती है।²⁴ इसी को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में वृत्तियाँ पूर्णतः शान्त हो जाती हैं, केवल उनका संस्कार शेष रह जाता है, जिनके निरोध हेतु बारम्बार विराम प्रत्यय अर्थात् निरोध संस्कारों का अभ्यास किया जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि केवल सम्प्रज्ञात समाधि की ही विरोधिनी नहीं, अपितु विवकेख्यातिरूप प्रज्ञा के संस्कारों की अवरोधकारिणी भी होती है। इस अवस्था में बारम्बार निरोध संस्कार मात्र उत्पन्न होते रहते हैं जिससे निरोध स्थिति दृढ़ होती है। ऐसी आशंका नहीं होनी चाहिये कि निरोध संस्कारों के उदय होते रहने से चित्त अधिकार विशिष्ट बना रहेगा। क्योंकि निरोध संस्कार चित्ताधिकार के विरोधी होने से भोग के हेतु नहीं है। इसी असम्प्रज्ञात समाधि से योगी जीवनमुक्त पद प्राप्त करता है। अविद्यारूपी कारण भूत आलम्बन समाप्त हो जाने से इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। श्री बलदेव उपाध्याय ने सम्प्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात समाधि के भेद को बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाया है। उनके

अनुसार लकड़ी के टुकड़ों से अग्नि प्रज्ज्वलित करने से प्रथम वे जलते हैं और उनका दाहक अग्नि एकार लौ के रूप में दृष्टिगत होता है। पहले लकड़ी के टुकड़े जलते हैं, तत्पश्चात् आग्नि स्वयं जलता रहता है। अन्ततः दाह्य पदार्थ के अभाव में आग स्वयं भी शान्त हो जाती है। इसी भाँति चित्त की अनेक वृत्तियाँ—किसी एक वस्तु में चित्त एकाग्र करने पर क्षीण होकर ध्येयाकार वृत्ति को दृढ़ करती है। उस समय ध्येय वृत्ति ही प्रधानतः प्रकाशित रहती है। ध्यान—प्रकर्ष—जन्य इस सुदृढ़वृत्ति को समाधि प्रज्ञा कहते हैं। प्रज्ञाग्नि की प्रदीप्ति से समिधाभूत इतर वृत्ति समूह भस्मसात् हो जाता है। अन्त में वृत्त्यभावकाल में जब एकाग्र भूमिक चित्त ध्येय मात्र के चिन्तन में निरन्तर संलग्न रहता है, तब सम्प्रज्ञात समाधि होती है। प्रज्ञा का उदय इसी का फल है। सम्प्रज्ञात की अंतिम प्रज्ञा है—विवेकख्याति जो ऋत सत्य का प्रकाश करती है, क्लेशों को नष्ट करती है तथा कर्म बन्धन शिथिल करके, चित्त को निरोधाभिमुख करती है। नितान्त सात्विक होने पर भी विवेक प्रज्ञा अन्तः वृत्ति है। अतः इसे भी निरुद्ध करने पर पूर्ण निरोध असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। योग साधक का लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधि ही है, क्योंकि इसकी प्राप्ति हो जाने पर कैवल्य करतलस्य आमलकवत् हो जाता है, अर्थात् प्रारब्ध समाप्त होने पर देहपात के साथ ही कैवल्य भी अवश्यमभावी है।

इस प्रकार समाधि उस दिशा का नाम है जिसमें से मोक्ष प्राप्ति से पूर्व गुजरना आवश्यक है। क्योंकि योग समाधि द्वारा मोक्ष प्राप्ति पर आग्रह करता है। इस अवस्था में बाह्य जगत के साथ सम्बन्ध छूट जाता है। योग साधना का यह लक्ष्य है, क्योंकि यह आत्मा को उसके काल सम्बन्धि सोपाधिक तथा परिवर्तनशील जीवन से ऊपर उठाकर एक सरल नित्य तथा पूर्ण जीवन प्राप्त कराता है। इसके द्वारा पुरुष नित्य पद को पुनः प्राप्त कर लेता है। समाधि एक सरल अनुभव नहीं है, जो जब तक रहे एक समान हो। इसके विपरीत यह ऐसी मानसिक अवस्थाओं की श्रृंखला है जो अधिकाधिक सरल होती हुयी अंत में अचेतन अवस्था में परिणत हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि ऐसी एकाग्रता है जिसमें कोई चित्तवृत्ति

उपस्थित नहीं रहती यद्यपि प्रसुप्त संस्कार रह जाते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि में जिस विषय का चिन्तन किया जाता है उसकी चेतना स्पष्ट रहती है और विषयी से भिन्न रूप में रहती है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में यह भेद विलुप्त हो जाता है। आत्मा अब शरीर अथवा मन से अभिज्ञ नहीं रहती, बल्कि जानती है कि जिसकी उसे इच्छा थी वह उसके पास है और वह ऐसी स्थिति में है जहाँ कोई छल नहीं आ सकता और वह अपने परमानन्द को स्वर्ग के भी स्वर्ग के साथ बदलने को तैयार न होगी। शेलिंग अपनी 'फिलासफिकल लैटर्स अफैन डोग्मैटिज्म एण्ड क्रिटिसिज्म' नामक पुस्तक में कहता है कि 'हम सब के अन्दर एक गुप्त तथा अदभूत शक्ति निवास करती है, जिसके द्वारा हम अपने को काल जनित परिवर्तनों से स्वतन्त्र कर सकते हैं, अपने को बाह्य वस्तुओं से हटाकर अपनी गुह्य आत्मा में समेट सकते हैं और हमारे अन्दर अपरिवर्तनशीलता के रूप में जो नित्य है उसे खोज सकते हैं। अपने को अपने—आपके समक्ष इस तरह प्रस्तुत करना यथार्थ में सर्वथा निजी अनुभव है, जिस पर वह सब कुछ निर्भर करता है जो हम अतिन्द्रिय लोक के सम्बन्ध में जानते हैं। यह प्रस्तुतीकरण हमें प्रथम बार यह दिखाता है कि यथार्थ क्या है, जबकि अन्य सब कुछ प्रतीति मात्र है। यह प्रस्तुतीकरण अन्य सब इन्द्रिय जनित प्रस्तुतीकरणों से भिन्न है, क्योंकि यह सम्पूर्ण रूप में स्वतन्त्र है जबकि अन्य सब प्रस्तुतीकरण बद्ध है, पदार्थों के भार से बुरी तरह दबे हुये है। यह बौद्धिक प्रस्तुतीकरण तब सम्पन्न होता है जब हम अपने ही प्रमेय बनने बन्द हो जाते हैं, जब अपने अन्दर सीमटकर प्रत्यक्षद्रष्टा मूर्ती प्रत्यक्षीकृत आत्मा में आत्मसात् हो जाती है। उस समय हम काल तथा कालावधि को सर्वथा मिटा देते हैं। हम तब काल के अन्दर नहीं होते बल्कि काल अथवा स्वयं अनन्तता हमारे अन्दर होती है। बाह्य जगत हमारे लिए प्रमेय नहीं रहता, बल्कि हमारे अन्दर लुप्त हो जाता है।

जब तक हम समाधि की अवस्था को नहीं पहुँचते, हमारा प्रयत्न निषेधपरक अर्थात् पुरुष का प्रकृति से भिन्न जानना, रहता है। किन्तु जब इस पारस्परिक

भेद का पूरा ज्ञान हो गया, तो आत्मा का विध्यात्मक स्वरूप अपने को अभिव्यक्त करता है। आत्मा के स्वरूप की उसके अपने स्तर पर यह अभिव्यक्ति जो प्रकृति के साथ सब प्रकार के मिश्रण से ऊपर है, समाधि की सबसे उन्नत अवस्था है। इस अत्युत्कृष्ट चेतनामय समाधि में द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। उस अवस्था में आत्मा तथा चित्त की क्रिया के मिश्रण की समस्त संभावना मिट जाती है। योग का यह मत है कि मनुष्य का चित्त एक चक्की के पाट के समान है। यदि हम उसके नीचे गेहूँ रखेंगे तो वह उसे पीसकर आटे के रूप में परिणत कर देगा और यदि हम उसमें पीसने को कुछ न रखेंगे तो वह चलते-चलते अन्त में अपने आपको ही पीस डालेगा। जब हम चित्त को उसके उतार-चढ़ाव से विहीन कर देते हैं तो उसकी चेष्टा विराम को प्राप्त हो जाती है और वह नितान्त अकर्मण्यता की अवस्था में आ जाता है। उस समय हम ऐसे मौन में प्रवेश करते हैं जिस पर बाह्य जगत का सतत कोलाहल कोई प्रभाव नहीं डालता। चित्त तो निराश्रय हो गया, किन्तु आत्मा बिल्कुल स्वस्थ है। यह एक ऐसी अवस्था है जो रहस्यमय है और प्रगाढ़ एकाग्रता के परिणाम स्वरूप होती है। इसका हम ठीक-ठीक विवरण नहीं दे सकते। क्योंकि व्यास ने उद्धरण दिया है। योग के द्वारा ही योग को जाना जा सकता है और योग की अभिव्यक्ति भी योग के द्वारा होती है और जो योग के प्रति तत्पर है वह सदा इसी में रमा रहता है।²⁵ समाधि एक ऐसी अवस्था है जो बहुत कम व्यक्तियों को प्राप्त होती है और प्रायः कोई भी इसे देर तक धारण किए नहीं रह सकता, क्योंकि जीवन के मॉगों के कारण यह भंग हो जाती है। इसलिए यह कहा गया है कि अंतिम मोक्ष तब तक संभव नहीं है, जब तक की इस शरीर का त्याग नहीं होता।

उन्माद की अवस्थाएं आती हैं, इस विषय में कोई संदेह नहीं कर सकता। प्लेटो के अनुसार 'यह दैवीय उन्माद मनुष्य को दिए गए वरदानों का मुख्यतम स्रोत है।' महर्षि घेरण्ड ने घेरण्ड संहिता में समाधि के छः भेद बताकर उनके लिए पृथक-पृथक मुद्राओं का निर्देश किया है। समाधि योग के छः भेद हैं - ध्यान

योग, नाद योग, रसानन्द योग, लयसिद्ध योग, भक्ति योग और राज योगाख्यान योग। ध्यान योग शाम्भवी मुद्रा से नादयोग खेचरी मुद्रा से रसानन्दयोग भ्रामरी मुद्रा से लयसिद्धि योग की योनी मुद्रा से भक्तियोग की मनोमूर्च्छा से और राजयोग समाधि कुम्भक से सिद्ध होती है।²⁶ ध्यान योग के अभ्यास में शाम्भवी मुद्रा का प्रयोग और आत्मा में दीप्तिमान ज्योति का ध्यान करना चाहिये और यह प्रयत्न करना चाहिये कि वह ज्योति बिन्दु ब्रह्म के रूप में दिखाई दे। फिर ऐसा ध्यान करे कि हमारी आत्मा ही आकाश के मध्य विद्यमान है। आत्मा आकाश में चारों ओर लिपटी है और वहाँ सर्वत्र आत्मा ही है और यह परमात्मा में लीन हो रही है। खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हुये जिह्वा को ऊपर रखे। इससे साधारण क्रियाएं हटकर जो समाधि सिद्ध होती है वह नादयोग समाधि है। जिह्वा को लौट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करने से खेचरी मुद्रा होती है और जब तक वह जिह्वा ब्रह्मरन्ध्र में रहती है तब तक योगी का समाधि की अवस्था रहती है। जिह्वा का ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने का अभ्यास अनेक वर्षों में हो पाता है। इसके पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र को भी पार कर जाती है। भ्रामरी मुद्रा करके श्वास को मन्द वेग से बाहर निकाल दे। इस अभ्यास के समय शरीर में भौरों के समान गुंजार होती है। यह नाद जहाँ पर हो वही पर मन को लगा लें। यह रसानन्दयोग समाधि कहलाती है। इससे साधक को 'सोऽहं' या वह मैं ही हूँ ऐसा हो जाता है। योगीमुद्रा का साधन करके योगी स्वयं में शक्ति की भावना और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। फिर यह भावना करे कि मुझमें और परमात्मा में शक्ति और पुरुष रूप में बिहार हो रहा है। फिर आनन्दमय ऐक्य स्थपित करता हुआ यह चिन्तन करे कि मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ। इससे जो समाधि सिद्ध होती है लयसिद्ध योग समाधि है। इस प्रकार साधक अपने को उमारूप मानता हुआ स्वयं में अद्वैत ब्रह्म की भावना करें और चित्त को ब्रह्म में लय कर दे। अपने हृदय में परम आह्लाद सहित भक्ति योग के द्वारा इष्टदेव के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। इससे आनन्द के आँसू बहने लगते हैं और शरीर पुलकायमान होता है तथा मन

में अचैतन्यता और एकाग्रता आकर ब्रह्म से साक्षात्कर होता है। यह भक्ति योग समाधि कहलाती है। इसमें भगवान का आश्रय लेकर मन को पूर्णतः उसमें लीन कर दिया जाता है। गीत में श्री कृष्ण कहते हैं कि जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा मेरा सेवन करता है, वह प्राकृतिक गुणों से पार होकर ब्रह्मभाग की प्राप्ति में समर्थ होता है। तब उसकी आत्मा प्रसन्न हो जाती है। उस समय वह न कुछ शोक करता है और न कुछ कामना ही करता है।²⁷ वह सभी भूतों में समान भाव रखता हुआ मेरी परम भक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार निष्काम प्राणियों को आत्मवत् समझकर उनकी सेवा सहायता करने वाला ही भक्ति योग का अधिकारी है। जब साधक भगवान की भक्ति में अपने चित्त को लगा देता है, तब भक्ति योग समाधि होती है। उस समय साधक का शरीर हर्ष से पुलकित रहता और आनन्द के आँसू बहने लगते हैं और उसे अपने शरीर का भी कोई ज्ञान नहीं रहता अर्थात् वह ब्रह्म विषयों में संज्ञाशून्य हो जाता है। मनोमूर्च्छा करता हुआ योगी मन को एकाग्र करके ब्रह्म में लगाता है। इस प्रकार परमात्मा के साथ समायोग होने को राजयोग समाधि कहते हैं। इस क्रिया में मन को सब ओर से हटाकर आज्ञा चक्र में लगाया जाता है। आज्ञा चक्र दोनों भौहों के मध्य स्थित है। वही रुद्र ग्रन्थि है, जिसका भेदन अक्षर वायु के द्वारा किया जाता है। आज्ञा चक्र के पश्चात् विशुद्ध चक्र के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। छः चक्रों को पार करने पर ही साधक की कुण्डलिनी शक्ति के दर्शन हो सकते हैं। यह साधना किसी सद्गुरु की शरण में जाकर उनके उपदेशानुसार, उनके निरीक्षण में ही करनी चाहिए। एकात्मा में ध्यान करते हुये राजयोग समाधि होती है। आत्मा और परमात्मा में भेद न मानकर आत्म में ही ध्यान करते हुए अन्त में समाधि की अवस्था हो जाती है। अन्नपूर्णापनिषद् के अनुसार — जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही समाधि है। क्योंकि एक ही आत्मा नित्य सर्वव्यापी कूटस्था तथा दोष रहित है। उन्मनी सहज अवस्था होने पर जो उपलब्धियाँ हो वे सब समाधि ही समझनी चाहिये। उन्मनी सहज अवस्था वह है जिसमें चित्तवृत्तियों का पूर्णरूपेण

विलय हो जाता है और योग शास्त्र के अनुसार चित्तवृत्तियों का विलयन रूपी ब्रह्म में सहज ही हो सकता है। घेरण्ड ऋषि ने अपने उपदेश में कहा है कि मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुष को अपने घर, स्त्री-पुत्रादि तथा धन ऐश्वर्य को त्यागकर योग की साधना करनी चाहिए। योग के सभी अंगों में समाधि अंतिम अंग है। उसकी सिद्धि सभी संकल्पों को त्याग देने से ही होती है। संकल्प का अर्थ है मन या चित्त। इसको त्यागकर ही साधक समाधि की ओर प्रेरित हो सकता है। चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक उसे शुद्ध करे। समाधि रूप परम योग बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। वह उन्हीं को प्राप्त है जो गुरुभक्त है और जिन पर गुरुकृपा है विद्या की प्रतीति, अपने गुरु की प्रतीति, आत्मा की प्रतीति और मन का प्रबोध जिसका दिनोदिन बढ़ता है उसी को समाधि का अधिकारी समझना चाहिए। समाधि के विषय में जाबालोपनिषद् के दशम् खण्ड में आया है कि परमात्मा और जीवात्मा के एकीभाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मिका बुद्धि का प्राकट्य ही समाधि है। जब ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों में अपने को ही देखता है तथा सब प्राणियों को अपने में स्थित देखता है, तब वह साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है। जब समाधिस्थ पुरुष परमात्मा में एकत्व प्राप्त करके किसी प्राणि को अपने से भिन्न नहीं देखता तब वह परमात्मा रूप में ही स्थित होता है। महर्षि पतंजलि ने समाधि का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुये कहा गया है कि— तदेवार्थमात्र निर्भास स्वरूप शून्य मिव समाधिः। अर्थात् जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का अपना रूप शून्य हो जाता है, वही (ध्यानावस्था) समाधि है। अर्थात् जब ध्यान में अपना भी भान न रहे केवल ध्येय सहित है। वही समाधि है। योग दर्शन में समाधि की आवधारणा एक विलक्षण अवधारणा है। यह अन्य दर्शनों से अलग है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. योग भाष्य 1/1
2. तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपपशुस्यमिव समाधिः - यो०सू०. 3/3
3. यो०वा०पृ०9
4. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः - यो० सू० 1-17
5. वितर्कश्चितस्यालम्बनेस्थूल आभोगः - व्या० भा० 1/17
6. तलशब्दार्थज्ञानाविकल्पसंकीर्णा सवितर्का समायत्ति । यो०सू० 1/42
7. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येव, अर्थमात्रनिर्मासा निर्वितर्का । यो० सू०.1/43
8. शत०ब्रा० 9/4:4/7
9. यो०भा०सू० - 1/17
10. दृकदर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता । यो०सू० 2.61
11. विरामप्रतययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽयः यो०सू० 1/18
12. तीव्र संवेगानामसन्नः 1/21 यो०सू०
13. स पूर्वेषामीय गुरुःकालेनानवच्छेदात् । यो० सू० 1/26
14. सर्व द्वाराणि संयम्यमनो हृदि निरुद्धय च । मूर्ध्याध्यात्मनः प्राणमास्थितो योगधरणम् ।
गी० 8212
15. मृण्डकोपनिषद् 2/2/4
16. साइन्स आफ योग, पृ० 63-68
17. देवी पुराण, पृ० 79, गीता प्रेस
18. भास्वती - 1/13
19. यो० सू० - 1/34
20. यो० सू० - 1/48
21. निघण्टु 3/10

22. यो०सू० 1/49

23. तत्त्ववैशारदी – 1/19

24. श्रद्धावीर्यसमाधिप्रज्ञापूर्वकइतरेषाम् । यो० सू० 1/20

25. योगभाष्य – 3:6

26. शाम्भव्या चैवखेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया ।

ध्यानं नादं रसानन्द्र लयसिद्धिश्चतुर्विधा ॥5॥

पंचधाभक्तियोगेन मनोमूर्च्छाव षड्विधा ।

षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत् ॥6॥ घेरण्ड सहितां, समाधि योग प्रकरण ।

27. गीता-18-54

